हॉस्टल में पढ़ना

पतरस बुख़ारी

हमने कॉलेज में शिक्षा तो ज़रूर पाई और धीरे-धीरे बी.ए. भी पास कर लिया, लेकिन उस अर्ध-शताब्दी के दौरान जो कॉलेज में बितानी पड़ी, हॉस्टल में प्रवेश पाने की अनुमति हमें सिर्फ़ एक ही दफ़ा मिली। ईश्वर की यह अनुकंपा हम पर कब और किस प्रकार हुई, यह सवाल एक दास्तान का मोहताज है।

जब हमने एंट्रेंस पास किया तो क्षेत्रीय स्कूल के हेडमास्टर साहब ख़ास तौर से बधाई देने के लिए आए। क़रीबी रिश्तेदारों ने दावतें दीं। मोहल्ले वालों में मिठाई बाँटी गयी और हमारे घर वालों पर एकाएक यह भेद खुला कि वह लड़का जिसे वे आज तक अपनी अदूरदर्शिता के कारण एक बेकार और नालायक़ पुत्र समझ रहे थे, दरअस्ल असीमित योग्यताओं का मालिक है, जिसके पालन-पोषण और विकास पर आने वाली अनगिनत पीढ़ियों का उद्धार निर्भर है। इसलिए हमारे आगामी जीवन के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रस्ताओं पर विचार किया जाने लगा।

थर्ड डिवीज़न में पास होने के कारण यूनिवर्सिटी ने हमको छात्रवृत्ति देना उचित न समझा। चूँकि हमारे परिवार ने ईश्वर की कृपा से आज तक कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया इसलिए छात्रवृत्ति का न मिलना भी, विशेष रूप से उन रिश्तेदारों के लिए जो रिश्ते के लिहाज़ से परिवार के उपनगर में बसते थे, गौरव व अभिमान का कारण बन गया और "केन्द्रीय रिश्तेदारों" ने तो इसको परम्परा-निर्वहन और शिष्टाचार समझकर परीक्षकों की सज्जनता व कुलीनता को बेहद सराहा। बहरहाल, हमारे परिवार में फ़ालतू रूपये की बहुलता थी, इसलिए निःसंकोच यह निर्णय ले लिया गया कि न सिर्फ़ हमारी बल्कि राष्ट्र और शायद मानव जाति की भलाई के लिए यह ज़रूरी है कि ऐसे होनहार विद्यार्थी की शिक्षा जारी रखी जाए।

इस बारे में हमसे भी मशवरा लिया गया। उम्र भर में इससे पहले हमारे किसी मामले में हमसे राय तलब न की गयी थी। लेकिन अब तो हालात बहुत मुख़तलिफ़ थे। अब तो एक निष्पक्ष और ईमानदार न्यायाधीश यानी विश्वविद्यालय हमारी बुद्धिमत्ता व विवेक को प्रमाणित कर चुका था। अब भला हमें कैसे नज़रअंदाज़ किया जा सकता था। हमारा मशवरा यह था कि हमें तुरंत विलायत भेज दिया जाए। हमने मुख़तलिफ़ लीडरों के भाषणों के उद्धरणों से यह साबित किया कि भारत की शिक्षा-पद्धति बहुत दोषपूर्ण है। अख़बारों में से विज्ञापन दिखा-दिखाकर यह स्पष्ट किया कि विलायत में कॉलेज की शिक्षा के साथ-साथ फ़ुर्सत के समय में बहुत थोड़ी-थोड़ी फ़ीस देकर एक साथ जर्नलिज़्म, फ़ोटोग्राफ़ी, लेखन व सृजन, दन्त-विद्या, ऐनक-साज़ी, एजेंटों का काम, संक्षिप्त में यह कि अनगिनत मुफ़ीद पेशे कमख़र्च पर सीखे जा सकते हैं और थोड़े समय में इंसान हर-फ़न-मौला बन सकता है।

लेकिन हमारे प्रस्ताव को तुरंत रद्द कर दिया गया, क्योंकि विलायत भेजने के लिए हमारे शहर में कोई परंपरा मौजूद न थी। हमारे पास-पड़ोस में से किसी का लड़का अभी तक विलायत न गया था। इसलिए हमारे शहर की पब्लिक वहाँ के हालात से बिल्कुल अनजान थी।

इसके बाद फिर हम से राय तलब न की गयी और हमारे वालिद, हेडमास्टर साहब और तहसीलदार साहब, इन तीनों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि हमें लाहौर भेज दिया जाए।

जब हमने यह ख़बर सुनी तो शुरू-शुरू में हमें सख़्त मायूसी हुई। लेकिन इधर-उधर के लोगों से लाहौर के हालात सुने तो मालूम हुआ कि लंदन और लाहौर में बिल्कुल अंतर नहीं। कुछ जानकार दोस्तों ने सिनेमा के हालात पर प्रकाश डाला। कुछ ने थिएटरों के उद्देश्यों से आगाह किया। कुछ ने ठंडी सड़क के मनोरंजन को सुलझाकर समझाया। कुछ ने शाहदरे और शालामार के रोमांचक वातावरण का चित्र खींचा। इस तरह जब लाहौर का भूगोल पूरी तरह हमारे मन में बैठ गया तो साबित यह हुआ कि खुशगवार जगह है और उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए बेहद मुनासिब। इस पर हमने अपनी ज़िंदगी का प्रोग्राम बनाना शुरू कर दिया। जिसमें लिखने-पढ़ने को स्थान तो अवश्य दिया गया लेकिन एक उचित हद तक, ताकि स्वभाव पर कोई अनुचित बोझ न पड़े और प्रकृति अपना काम भली भांति कर सके।

लेकिन तहसीलदार साहब और हेड-मास्टर साहब की नेक-नीयती यहीं तक सीमित न रही। अगर वे केवल एक साधारण और अनर्गल सा सुझाव दे देते कि लड़के को लाहौर भेज दिया जाए तो बहुत खूब था। लेकिन उन्होंने तो विवरणों में हस्तक्षेप करना शुरु कर दिया और हॉस्टल के जीवन और घर के जीवन की तुलना करके हमारे पिता जी पर यह साबित कर दिया कि घर पवित्रता और शुचिता का एक काबा और हॉस्टल पाप व अपराध का एक नरक है। एक तो थे वे वाकपटु, उसपर उन्होंने अनगिनत ग़लत-बयानियों से काम लिया। इस वास्ते घर वालों को विश्वास सा हो गया कि कॉलेज का हॉस्टल अपराधी जातियों की एक बस्ती है और जो विद्यार्थी बाहर के शहरों से लाहौर जाते हैं, अगर उनकी पूरी निगरानी न की जाए तो वे अक्सर या तो शराब के नशे में चूर सड़क के किनारे गिरे हुए पाए जाते हैं, या किसी जुएख़ाने में हज़ारों रूपये हारकर आत्महत्या कर लेते हैं या फिर फ़र्स्ट-इयर की परीक्षा पास करने से पहले दस बारह शादियाँ कर बैठते हैं।

इस तरह घर वालों को यह सोचने की आदत पड़ गयी कि लड़के को कॉलेज में तो प्रविष्ट कराया जाए लेकिन हॉस्टल में न रखा जाए। कॉलेज ज़रूर, मगर हॉस्टल में हरगिज़ नहीं। कॉलेज लाभदायक, मगर हॉस्टल हानिकारक। वह बहुत ठीक, मगर यह असंभव। जब उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य ही बना लिया कि कोई ऐसा उपाय सोचा जाए, जिससे लड़का हॉस्टल के प्रभाव क्षेत्र से सुरक्षित रहे तो किसी उपाय का सूझ जाना क्या मुश्किल था। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। सल लिए बेहद सोच-विचार के बाद लाहौर में हमारे एक मामूँ की खोज की गई और उनको हमारा संरक्षक बना दिया गया। मेरे दिल में उनकी इज़्ज़त पैदा करने के लिए बहुत सी वंशावलियों के पन्ने उलट-पलटकर मुझ पर यह साबित किया गया कि वे वाक़ई मेरे मामूँ हैं। मुझे बताया गया कि जब मैं एक दुधमुंहा बच्चा था तो मुझसे बेइंतहा मुहब्बत किया करते थे। इस वास्ते फ़ैसला यह हुआ कि हम पढ़ें कॉलेज में और रहें मामूँ के घर।

इससे शिक्षा प्राप्त करने की जो एक उमंग सी हमारे दिल में उठ रही थी, वह कुछ बैठ सी गई। हमने सोचा यह मामूँ लोग अपने संरक्षण के दंभ में माता-पिता से भी ज़्यादा सावधानी बरतेंगें, जिसका नतीजा यह होगा कि हमारी मानसिक और आध्यात्मिक क्षमताओं को फलने फूलने का मौक़ा न मिलेगा और शिक्षा का मूल मक़सद मर जाएगा। इस लिए वही हुआ जिसका हमें ख़ौफ़ था। हम दिन-प्रतिदिन मुझ्झते चले गए और हमारे दिमाग़ पर फफूँद सी जमने लगी। सिनेमा जाने की अनुमति कभी-कभार मिल जाती थी लेकिन इस शर्त पर कि बच्चों को भी साथ लेता जाऊँ। इस संगत में भला मैं सिनेमा से क्या लाभ उठा सकता था। थिएटर के मामले में हमारी जानकारी इंद्रसभा से आगे बढ़ने न पाई। तैरना हमें न आया। क्योंकि हमारे मामूँ का एक मशहूर कथन है कि "डूबता वही है जो तैराक हो। जिसे तैरना न आता हो वह पानी में घुसता ही नहीं"। घर आने-जाने वाले दोस्तों का चयन मामूँ के हाथ में था। कोट कितना लम्बा पहना जाए और बाल कितने लम्बे रखे जायें, उनके सम्बन्ध में निर्देश बहुत कड़े थे। हफ़्ते में दो बार घर ख़त लिखना ज़रूरी था। सिगरेट गुसलख़ाने में छुपकर पीते थे। गाने-बजाने की सख़्त मनाही थी।

यह सिपाहियाना जीवन हमें रास न आया। यूँ तो दोस्तों से मुलाक़ात भी हो जाती थी, सैर को भी चले जाते थे, हँस बोल भी लेते थे, लेकिन वह जो ज़िंदगी में एक आज़ादी, एक फैलाव, एक मस्ती होनी चाहिए वह हमें नसीब न हुई। धीरे-धीरे हमने अपने माहौल पे ग़ौर करना शुरू किया कि मामूँ जान आम तौर पर किस समय घर में होते हैं, किस समय बाहर जाते हैं, किस कमरे में से किस कमरे तक गाने की आवाज़ नहीं पहुँच सकती, किस दरवाज़े से कमरे के किस कोने में झाँकना असंभव है, घर का कौन सा दरवाज़ा रात के वक़्त बाहर खोला जा सकता है, कौन सा नौकर अनुकूल है, कौन सा नमकहलाल है। जब अनुभव और अन्वेषण से इन बातों का अच्छी तरह अन्दाज़ा हो गया तो हमने इस जीवन में भी फलने-फूलने के लिए चंद गुंजाइशें पैदा कर लीं। लेकिन फिर भी हम रोज़ देखते थे कि हॉस्टल में रहने वाले छात्र किस तरह अपने पाँव पर खड़े होकर जीवन के राजमार्ग पर चल रहे हैं। हम उनकी ज़िंदगी पर रश्क करने लगे। अपनी ज़िंदगी को सुधारने की इच्छा हमारे दिल में दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। हमने दिल से कहा, माँ-बाप की नाफ़रमानी किसी धर्म में उचित नहीं लेकिन उनकी सेवा में विनती करना, उनके सामने अपनी तुच्छ राय का इज़हार करना, उनको सही हालात से आगाह करना, मेरा दायित्व है और दुनिया की कोई शक्ति मुझे अपना दायित्व निभाने से रोक नहीं सकती।

लिहाज़ा जब गर्मियों की छुट्टियों में मैं घर को वापस गया तो चंद संक्षिप्त, मगर व्यापक और प्रभावशाली भाषण अपने दिमाग़ में तैयार रखे। घर वालों को हॉस्टल पर सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि वहाँ की आज़ादी नौजवानों के लिए बहुत घातक होती है। इस ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए हज़ारों ऐसी घटनाओं की रचना की जिनसे हॉस्टल के नियमों की सख़्ती उन पर अच्छी तरह स्पष्ट हो जाए। सुप्रिंटेन्डेंट साहब के अत्याचार और हिंसा की चंद मिसालें भर्राए हुए स्वर में सुनाईं। आखें बंद करके एक आह भरी और बेचारे अशफ़ाक़ का वाक़या बयान किया कि एक दिन शाम के वक़्त बेचारा हॉस्टल को वापस आ रहा था। चलते-चलते पाँव में मोच आ गयी। दो मिनट देर से पहुँचा। सिर्फ़ दो मिनट। बस साहब इस पर सुप्रिंटेन्डेंट

साहब ने तार देकर उसके पिता जी को बुलवा लिया। पुलिस से तफ़तीश कराने को कहा और महीने भर के लिए उसका जेब ख़र्च बंद कर दिया। तौबा! तौबा!

लेकिन यह घटना सुनकर घर के लोग सुप्रिटेन्डेंट के ख़िलाफ़ हो गए। हॉस्टल की खूबी उन पर स्पष्ट न हुई। फिर एक दिन मौक़ा पाकर बेचारे महमूद का वाक़या बयान किया कि एक दफ़ा शामत का मारा बेचारा सिनेमा देखने चला गया। क़ुसूर उससे यह हुआ कि एक रूपये वाले दर्जे में जाने के बजाए वह दो रूपये वाले दर्जे में चला गया। बस इतनी सी फ़िज़ूलख़र्ची पर उसे उम्र भर सिनेमा जाने की मनाही हो गयी है।

लेकिन इससे भी घर वाले प्रभावित न हुए। उनके रवैये से मुझे फ़ौरन एहसास हुआ कि एक रूपये और दो रूपये के बजाए आठ-आना और एक रूपया कहना चाहिए था।

इन्हीं नाकाम कोशिशों में छुट्टियाँ गुज़र गईं और हमने फिर मामूँ की चौखट पर आकर सजदा किया।

अगली गर्मियों की छुट्टियों में जब हम फिर घर गए तो हमने एक नया ढंग इख़्तियार किया। दो साल शिक्षा पाने के बाद हमारे विचारों में परिपक्वता सी आ गयी थी। पिछले साल हॉस्टल के समर्थन में जो दलीलें हमने पेश की थीं वे अब हमें निहायत कमज़ोर मालूम होने लगी थीं। अबके हमने इस विषय पर एक लेक्चर दिया कि जो व्यक्ति हॉस्टल के जीवन से वंचित हो, उसका व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। हॉस्टल से बाहर व्यक्तित्व पनपने नहीं पाता। चंद दिन तो हम इस पर दार्शनिक गुफ़्तगू करते रहे। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से इस पर बहुत कुछ प्रकाश डाला। लेकिन हमें महसूस हुआ कि बिना मिसालों के काम न चलेगा। और जब मिसालें देने की नौबत आयी तो ज़रा दिक़्क़त महसूस हुई। कॉलेज के जिन छात्रों के बारे में मेरी आस्था थी कि वे ज़बरदस्त व्यक्तित्व के मालिक हैं, उनका जीवन कुछ ऐसा न था कि माँ-बाप के सामने बतौर नमूने के पेश किया जा सके। हर वह शख़्स जिसे कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने का मौक़ा मिला है जानता है कि माता-पिता के वांछित उद्देश्यों के लिए विवरणों को एक नई और अछूती शैली में बयान करने की ज़रूरत पेश आती है। लेकिन इस नई शैली का सूझ जाना अंतर्बोध और संयोग पर निर्भर है। कुछ उदार-चित्त पुत्र माता-पिता को अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभाओं का क़ायल नहीं कर सकते और कुछ नालायक़-से नालायक़ विद्यार्थी माता-पिता को इस तरह संतुष्ट कर देते हैं कि हर हफ़्ते उनके नाम मनी-ऑर्डर पे मनी-ऑर्डर चला आता है।

बनादाँ आँ चुनाँ रोज़ी रसानद
कि दाना अन्दराँ हैराँ बेमानाद

(वह नादानों को इस तरह रोज़ी पहुँचाता है //कि ज्ञानी इस भेद के भीतर हैरानी में पड़े हैं)

जब हम डेढ़ महीने तक "व्यक्तित्व और हॉस्टल के जीवन पर इसकी निर्भरता" इन दोनों विषयों पर समय-समय पर अपने विचार व्यक्त करते रहे, तो एक दिन पिता जी ने पूछाः

"तुम्हारा व्यक्तित्व से आख़िर मतलब क्या है?"

मैं तो खुदा से यही चाहता था कि वे मुझे अनुनय-विनय का अवसर दें। मैंने कहा, " देखिए न! मसलन एक विद्यार्थी है। वह कॉलेज में पढ़ता है। अब एक तो उसका मस्तिष्क है। एक उसका शरीर है। शरीर का स्वास्थ्य भी ज़रूरी है और मस्तिष्क का स्वास्थ्य तो ज़रूरी है ही। लेकिन इनके अलावा एक और बात भी होती

है जिससे आदमी मानो पहचाना जाता है। मैं उसको व्यक्तित्व कहता हूँ। उसका सम्बन्ध न शरीर से होता है न मस्तिष्क से। हो सकता है कि एक आदमी का मानसिक स्वास्थ्य बिल्कुल ख़राब हो लेकिन फिर भी उसका व्यक्तित्व ——— न, ख़ैर मस्तिष्क तो बेकार नहीं होना चाहिए, वरना इंसान सनकी होता है। लेकिन फिर भी अगर हो भी, तो भी ——— मानो व्यक्तित्व एक ऐसी चीज़ है ——— ठहरिए, मैं अभी एक मिनट में आपको बताता हूँ।"

एक मिनट के बजाए पिता जी ने मुझे आधे घंटे का समय दिया जिसके दौरान वे ख़ामोशी के साथ मेरे जवाब का इंतज़ार करते रहे। उसके बाद मैं वहाँ से उठकर चला आया।

तीन चार दिन बाद मुझे अपनी ग़लती का एहसास हुआ। मुझे व्यक्तित्व नहीं चरित्र कहना चाहिए। व्यक्तित्व एक बेरंग सा शब्द है। चरित्र के शब्द से सदाचारिता टपकती है। इस लिए मैंने चरित्र को अपना तकिया-कलाम बना लिया। लेकिन यह भी लाभकारी साबित न हुआ। पिता जी कहने लगेः

"क्या चारित्र से तुम्हारा मतलब चाल-चलन है या कुछ और?"

मैंने कहा "चाल-चलन ही कह लीजिए।"

"तो यानी दिमाग़ी और जिस्मानी सेहत के अलावा चाल-चलन भी अच्छा होना चाहिए?"

मैंने कहा, "बस यही तो मेरा मतलब है।"

"और यह चाल-चलन हॉस्टल में रहने से बहुत अच्छा हो जाता है?"

अपेक्षाकृत महीन आवाज़ से कहा, "जी हाँ।"

"यानी हॉस्टल में रहने वाले विद्यार्थी नमाज़-रोज़े के ज़्यादा पाबंद होते हैं। मुल्क की ज़्यादा ख़िदमत करते हैं। सच ज़्यादा बोलते हैं। नेक ज़्यादा होते हैं।"

मैंने कहाः "जी हाँ।"

कहने लगेः "वह क्यों?"

इस सवाल का जवाब एक बार प्रिंसिपल साहब ने पुरस्कार वितरण समारोह में अत्यंत स्पष्ट रूप से बयान किया था। हाय काश मैंने उस समय ध्यान से सुना होता।

इसके बाद फिर साल भर मैं मामूँ के घर में "*ज़िंदगी है तो ख़िज़ाँ के भी गुज़र जाएँगे दिन*" गाता रहा।

हर साल मेरी अर्ज़ी का यही हश्र होता रहा। लेकिन मैंने हिम्मत न हारी। हर साल नाकामी का मुँह देखना पड़ता लेकिन अगले साल गर्मियों की छुट्टी में पहले से भी ज़्यादा शिद्दत के साथ प्रचार का काम जारी रखता। हर दफ़ा नई-नई दलीलें पेश करता, नई-नई मिसालें काम में लाता। जब व्यक्तित्व और चरित्र वाले विषय से काम न चला तो अगले साल हॉस्टल के जीवन के अनुशासन और नियंत्रण पर टिप्पणी की। उससे अगले साल यह दलील पेश की कि हॉस्टल में रहने से प्रोफ़ेसरों के साथ मिलने-जुलने के मौक़े ज़्यादा मिलते रहते हैं और इन "कॉलेज-से बाहर" की मुलाक़ातों से इंसान पारस हो जाता है। उससे अगले साल यह मतलब यूँ अदा किया कि हॉस्टल की आबोहवा बहुत अच्छी होती है, सफ़ाई का ख़ास तौर से ख़याल रखा जाता है। मक्खियाँ और मच्छर मारने के लिए कई-कई अधिकारी नियुक्त हैं। उससे अगले साल वाक्पटुता का हुनर यूँ

दिखाया कि जब बड़े बड़े हुक्काम (प्रशासक) कॉलेज का मुआयना करने आते हैं तो हॉस्टल में रहने वाले विद्यार्थियों से एक-एक करके हाथ मिलाते हैं। इससे रुसूख़ बढ़ता है, लेकिन ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रता गया मेरे भाषणों में जोश बढ़ता गया लेकिन तार्किकता कम होती गयी। शुरू-शुरू में हॉस्टल के मुद्दे पर पिता जी बाक़ायदा बहस किया करते थे। कुछ समय बाद उन्होंने एक शब्दीय इनकार का रवैया इख़्तियार किया। फिर एक-आध साल मुझे हँस के टालते रहे और आख़िर में यह नौबत आन पहुँची कि वे हॉस्टल का नाम सुनते ही एक व्यंग्य-मिश्रित ठहाके के साथ मुझे तशरीफ़ ले जाने का हुक्म दे दिया करते थे।

उनके इस सुलूक से आप यह अंदाज़ा न लगाइए कि उनका स्नेह कुछ कम हो गया था। हरगिज़ नहीं। हक़ीक़त सिर्फ़ इतनी है कि कुछ अप्रिय घटनाओं के कारण घर में मेरा प्रभुत्व कुछ कम हो गया था।

इत्तफ़ाक़ यह हुआ कि मैंने जब पहली बार बी.ए. की परीक्षा दी तो फ़ेल हो गया। अगले साल एक बार फिर यही दुर्घटना घटित हुई। उसके बाद भी जब तीन-चार दफ़ा यही क़िस्सा हुआ तो घर वालों ने मेरी उमंगों में दिलचस्पी लेनी छोड़ दी। बी.ए. में एक के बाद एक फ़ेल होने की वजह से मेरी गुफ़्तगू में एक वेदना तो ज़रूर आ गई थी लेकिन वाणी में वह पहले जैसा वैभव और मेरी राय में वह पहले जैसा वज़न अब न रहा था।

मैं छात्र-जीवन के उस दौर का हाल ज़रा विस्तार से बयान करना चाहता हूँ क्योंकि इससे एक तो आप मेरे जीवन के उतार-चढ़ाव से अच्छी तरह वाक़िफ़ हो जायेंगे और इसके अलावा इससे विश्वविद्यालय की कुछ अनियमितताओं का भेद भी आप पर खुल जाएगा। मैं पहले साल बी.ए. में क्यों फ़ेल हुआ, इसका समझना बहुत आसान है। बात यह हुई कि जब हमने एफ़.ए. की परीक्षा दी, चूँकि हमने काम बहुत दिल लगाकर किया था, इसलिए इसमें "कुछ" पास ही हो गए। बहरहाल फ़ेल न हुए। विश्वविद्यालय ने यूँ तो हमारा ज़िक्र बड़े अच्छे शब्दों में किया लेकिन गणित के सम्बन्ध में यह फ़रमाया कि सिर्फ़ इस विषय की परीक्षा एक-आध दफ़ा फिर दे डालो। (ऐसी परीक्षा पारिभाषिक शब्दावली में "कम्पार्टमेंट" की परीक्षा कहलाती है। शायद इसलिए कि अपने सहयात्रियों की स्वीकृति के बिना, अगर कोई इसमें सफ़र कर रहे हों, नक़ल करने की सख़्त मनाही है।)

अब जब हम बी.ए. में प्रवेश करने लगे तो हमने यह सोचा कि बी.ए. में गणित लेंगे। इस तरह से कम्पार्टमेंट की परिक्षा के लिए फ़ालतू काम न करना पड़ेगा। लेकिन हमें सब लोगों ने यही सलाह दी कि तुम गणित मत लो। जब हमने इसकी वजह पूछी तो किसी ने हमें कोई माक़ूल जवाब न दिया, लेकिन जब प्रिंसिपल साहब ने भी यही मशवरा दिया तो हम राज़ी हो गए। इस वास्ते बी.ए. में हमारे विषय अंग्रेज़ी, इतिहास और फ़ारसी निर्धारित हुए। साथ-साथ हम गणित की परीक्षा की भी तैयारी करते रहे। यानी हम तीन के बजाए चार विषय पढ़ रहे थे। इस तरह से जो स्थति पैदा हुई उसका अनुमान वही लोग लगा सकते हैं जिन्हें यूनिवर्सिटी की परिक्षाओं का पर्याप्त अनुभव है। हमारी अध्ययन शक्ति तितर-बितर हो गयी और विचारों में विक्षिप्तता पैदा हो गई। अगर मुझे चार के बजाए सिर्फ़ तीन विषय पढ़ने होते तो जो समय मैं फ़िलहाल चौथे विषय को दे रहा था वह बाँटकर मैं उन तीन विषयों को देता। आप यक़ीन मानिए इससे बड़ा फर्क़ पड़ जाता और मान लीजिए अगर मैं वह समय तीनों को बाँटकर न देता बल्कि सब-का-सब उन तीनों में से किसी एक विषय के लिए समर्पित कर देता तो कम-से-कम उस विषय में ज़रूर पास हो जाता। लेकिन मौजूदा हालात में तो वही

होना अनिवार्य था जो हुआ। यानी यह कि मैं किसी विषय पर यथोचित ध्यान न दे सका। कम्पार्टमेंट की परीक्षा में तो पास हो गया। लेकिन बी.ए. में एक तो अंग्रेज़ी में फ़ेल हुआ। वह तो होना ही था, क्योंकि अंग्रेज़ी हमारी मातृभाषा नहीं। इसके अलावा इतिहास और फ़ारसी में भी फ़ेल हो गया। अब आप सोचिए न कि जो समय मुझे कम्पार्टमेंट की परिक्षा पर ख़र्च करना पड़ा वह अगर मैं वहाँ ख़र्च न करता बल्कि उसके बजाए ——— मगर ख़ैर, यह बात मैं पहले अर्ज़ कर चुका हूँ।

फ़ारसी में किसी ऐसे व्यक्ति का फ़ेल होना जो एक शिक्षा-प्रेमी परिवार से सम्बन्ध रखता हो लोगों के लिए अत्यंत आश्चर्य का कारण बना और सच पूछिए तो हमें भी इस पर सख़्त शर्मिंदगी हुई, लेकिन ख़ैर अगले साल यह शर्मिंदगी धुल गयी और हम फ़ारसी में पास हो गए। उससे अगले साल इतिहास में पास हो गए और उससे अगले साल अंग्रेज़ी में।

अब नियमानुसार हमें बी.ए. का सर्टिफ़िकेट मिल जाना चाहिए था, लेकिन विश्वविद्यालय की इस बचकाना ज़िद का क्या इलाज कि तीनों विषयों में एक साथ पास होना आवश्यक है। कुछ स्वभाव ऐसे हैं कि जब तक एकाग्रता न हो, अध्ययन नहीं कर सकते। क्या ज़रूरी है कि उनके दिमाग़ को ज़बरदस्ती एक खिचड़ी सा बना दिया जाए। हमने हर साल सिर्फ़ एक विषय पर अपना सारा-का-सारा ध्यान केन्द्रित किया और इसमें वह सफलता प्राप्त की कि जैसी होनी चाहिए। बाक़ी दो विषय हमने नहीं देखे। लेकिन हमने यह तो साबित कर दिया कि जिस विषय में चाहें पास हो सकते हैं।

अब तक तो दो-दो विषयों में फ़ेल होते रहे थे। लेकिन इसके बाद हमने दृढ़ निश्चय कर लिया कि जहाँ तक हो सकेगा अपने अध्ययन को विस्तृत करेंगे। विश्वविद्यालय के बेहूदा और निरर्थक नियमों को हम अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ नहीं बना सकते तो अपने मन पर ही कुछ ज़ोर डालें। लेकिन जितना ग़ौर किया इसी नतीजे पर पहुँचे के तीन विषयों में एक साथ पास होना फ़िलहाल मुश्किल है। पहले दो में पास होने की कोशिश करनी चाहिए। इस तरह हम पहले साल अंग्रेज़ी और फ़ारसी में पास हो गए और दूसरे साल फ़ारसी और इतिहास में।

जिन-जिन विषयों में हम जैसे-जैसे फ़ेल हुए वह इस तालिका से स्पष्ट हैं:

1- अंग्रेज़ी- इतिहास- फ़ारसी
2- अंग्रेज़ी- इतिहास
3- अंग्रेज़ी- फ़ारसी
4- इतिहास- फ़ारसी

यानी जिन-जिन तरीक़ों से हम दो-दो विषयों में फ़ेल हो सकते थे वह हमने पूरे कर दिए। इसके बाद हमारे लिए दो विषयों में फ़ेल होना असंभव हो गया और एक-एक विषय में फ़ेल होने की बारी आयी। इस तरह अब हमने निम्नलिखित तालिका के अनुसार फ़ेल होना शुरू कर दिया:

5- इतिहास में फ़ेल
6- अंग्रेज़ी में फ़ेल

इतनी बार परीक्षा दे चुकने के बाद जब हमने अपने परिणामों को यूँ अपने सामने रखकर विचार किया तो साबित हुआ कि ग़म की रात ख़त्म होने वाली है। हमने देखा कि अब हमारे फ़ेल होने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा बाक़ी रह गया है। वह यह कि फ़ारसी में फ़ेल हो जायें लेकिन इसके बाद तो पास होना पक्का है। हालाँकि यह दुर्घटना बहुत हृदय-विदारक होगी। लेकिन इसमें यह सुभीता तो अवश्य निहित है कि इससे हमें एक प्रकार का टीका लग जाएगा। बस यही एक कसर बाक़ी रह गयी है। इस साल फ़ारसी में फ़ेल होंगे और फिर अगले साल क़तई पास हो जायेंगे। इस तरह सातवीं दफ़ा परीक्षा देने के बाद हम बेताबी से फ़ेल होने की प्रतीक्षा करने लगे। यह प्रतीक्षा दरअस्ल फ़ेल होने की न थी बल्कि इस बात की प्रतीक्षा थी कि इस फ़ेल होने के बाद अगले साल हमेशा के लिए बी.ए. हो जायेंगे।

हर साल परीक्षा के बाद घर आता तो माँ-बाप को नतीजे के लिए पहले ही से तैयार कर देता। धीरे-धीरे नहीं बल्कि अकस्मात् और तुरंत। धीरी-धीरे तैयार करने से ख़ामख़ाह वक़्त बरबाद होता है और परेशानी मुफ़्त में तूल खींचती है। हमारा नियम यह था कि जाते ही कह दिया करते थे कि इस साल तो कम-से-कम पास नहीं हो सकते। माता-पिता को अक्सर यक़ीन न आता। ऐसे मौक़ों पर मन को बड़ी उलझन होती है। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि मैं परचों में क्या लिख आया हूँ..... अच्छी तरह जानता हूँ कि परीक्षक लोग अक्सर नशे की हालत में परचे न देखें तो मेरा पास होना क़तई नामुमकिन है। चाहता हूँ कि मेरे तमाम शुभचिंतकों को भी इस बात का यक़ीन हो जाए ताकि वक़्त पर उन्हें सदमा न हो। लेकिन शुभचिंतक हैं कि मेरी सारी व्याख्याओं को सिर्फ़ विनम्रता समझते हैं। अंतिम वर्षों में पिता जी को तुरंत यक़ीन आ जाया करता था क्योंकि अनुभव से उन पर साबित हो चुका था कि मेरा अनुमान ग़लत नहीं होता। लेकिन इधर-उधर के लोग "अजी नहीं साहब!", "अजी क्या कह रहे हो!", "अजी यह भी कोई बात है!" ऐसे वाक्यों से नाक में दम कर देते। बहरहाल इस दफ़ा फिर घर पहुँचते ही हमने नियमानुसार अपने फ़ेल होने की भविष्यवाणी कर दी। दिल को यह तसल्ली थी कि बस यह आख़री बार है। अगले साल ऐसी भविष्यवाणी करने की कोई ज़रूरत न होगी।

साथ ही ख़याल आया कि वह हॉस्टल का क़िस्सा फिर शुरू करना चाहिए। अब तो कॉलेज में सिर्फ़ एक ही साल बाक़ी रह गया है। अब भी हॉस्टल में रहना नसीब न हुआ तो उम्र भर मानो आज़ादी से वंचित रहे। घर से निकले तो मामूँ के दड़बे में और जब मामूँ के दड़बे से निकले तो शायद अपना एक दड़बा बनाना पड़ेगा। आज़ादी का एक साल। सिर्फ़ एक साल। और यह आख़री मौक़ा है।

आख़री अर्ज़ी देने से पहले मैंने सारे ज़रूरी मसाले बड़ी सावधानी से जमा किए। जिन प्रोफ़ेसरों से मुझे अब हम-उम्री का गौरव प्राप्त था उनके सामने बेहद बेतकल्लुफ़ी से अपनी आरज़ूओं का इज़हार किया और उनसे पिता जी को पत्र लिखवाए कि अगले साल लड़के को ज़रूर आप हॉस्टल में भेज दें। कुछ सफल विद्यार्थियों के माता-पिता से भी इसी तरह की अर्ज़ियाँ भिजवाईं। खुद आँकड़ों से साबित किया कि विश्वविद्यालय से जितने लड़के पास होते हैं उनमें अक्सर हॉस्टल में रहते हैं और विश्वविद्यालय की कोई छात्रवृत्ति या तमग़ा या पुरस्कार तो कभी हॉस्टल से बाहर गया ही नहीं। मैं आश्चर्यचकित हूँ कि यह दलील मुझे इससे पहले कभी क्यों न सूझी थी, क्योंकि यह बहुत ही कारगर साबित हुई। पिता जी का इनकार नर्म होते-होते सोच-विचार में तब्दील हो

गया। लेकिन फिर भी उनके दिल से शक दूर न हुआ। कहने लगेः "मेरी समझ में नहीं आता कि जिस लड़के को पढ़ने का शौक़ हो वह हॉस्टल के बजाए घर पर क्यों नहीं पढ़ सकता।"

मैंने जवाब दिया, "हॉस्टल में एक शैक्षणिक वातावरण होता है जो अरस्तू और अफ़लातून (प्लेटो) के घर के सिवा और किसी घर में उपलब्ध नहीं हो सकता। हॉस्टल में जिसे देखो ज्ञान के समुद्र में डुबकियाँ लगाता नज़र आता है। बावजूद इसके कि हर हॉस्टल में दो-दो सौ, तीन-तीन सौ लड़के रहते हैं, फिर भी ऐसी ख़ामोशी छाई रहती है कि क़ब्रिस्तान मालूम होता है।

कारण यह कि हर एक अपने-अपने काम में लगा रहता है। शाम के वक़्त हॉस्टल के आँगन में जगह-जगह पर छात्र शास्त्रीय वाद-विवाद में व्यस्त नज़र आते हैं। सुबह तड़के हर एक विद्यार्थी किताब हाथ में लिए हॉस्टल के चमन में टहलता नज़र आता है। खाने के कमरे में। कॉमन रूम में। ग़ुसलख़ानों में, बरामदों में, हर जगह लोग दर्शनशास्त्र और गणित और इतिहास की बातें करते हैं। जिनको अंग्रेज़ी साहित्य में रूचि है वे दिन रात आपस में शेक्सपियर की तरह गुफ़्तगू करने का अभ्यास करते हैं। गणित के छात्र अपने हर एक विचार को अलजेब्रे में व्यक्त करने की आदत डाल लेते हैं। फ़ारसी के छात्र रुबाइयों में विचार-विनिमय करते हैं। इतिहास-प्रेमी....."

पिता जी ने इजाज़त दे दी।

अब हमें यह इंतज़ार कि कब फ़ेल हों, और कब अगले साल के लिए अर्ज़ी भेजें। इस दौरान हमने उन सारे दोस्तों से पत्राचार किए जिनके बारे में यक़ीन था कि अगले साल फिर उनका सत्संग नसीब होगा और उन्हें यह ख़ुशख़बरी सुनाई कि आइंदा साल हमेशा के लिए कॉलेज के इतिहास में यादगार रहेगा, क्योंकि हम शैक्षणिक जीवन का एक विस्तृत अनुभव अपने साथ लिए हॉस्टल में आ रहे हैं, जिससे हम छात्रों की नई पौध को मुफ़्त लाभान्वित फ़रमाएँगें। अपने मन में हमने हॉस्टल में अपनी भूमिका एक स्नेहमयी माँ की सी सोच ली, जिसके इर्द-गिर्द अनुभवी छात्र मुर्ग़ी के बच्चों की तरह भागते फिरेंगें। सुप्रिंटेन्डेंट साहब को जो किसी ज़माने में हमारे सहपाठी रह चुके थे लिख भेजा कि जब हम हॉस्टल में आएँगे तो फ़लाँ-फ़लाँ सुविधाओं की उम्मीद आपसे रखेंगे और फ़लाँ-फ़लाँ नियमों से अपने आपको मुक्त समझेंगें। आपको सूचित कर देना उचित समझा।

और यह सब कुछ कर चुकने के बाद हमारी बदनसीबी देखिए कि जब नतीजा निकला तो हम पास हो गए।

हम पे तो जो ज़ुल्म हुआ सो हुआ, विश्वविद्यालय वालों की हिमाक़त को तो देखिए कि हमें पास करके अपनी आमदनी का एक स्थाई साधन हाथ से गँवा बैठे।

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क